उपसंहार

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, वर्तमान नवउदारवादी भूमंडलीकरण एक नए ढ़ंग का साम्राज्यवाद है। यह अपने-आप में एक नए प्रकार का पूँजीवाद है। अतीत में साम्राज्यवाद उपनिवेशों में अपने स्थायित्व के लिए संस्कृति का इस्तेमाल महज एक उपकरण के तौर पर करता था। लेकिन, वह मुख्यतः आर्थिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद होता था। वर्तमान दौर में आर्थिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद तो परोक्ष रूप से विद्यमान रहता है, लेकिन प्रत्यक्ष तौर पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ही रहता है और वह भी भूमंडलीय स्तर पर। पुराने साम्राज्यवाद और नए साम्राज्यवाद में सबसे महत्त्वपूर्ण फर्क यह है कि प्रौद्योगिकी के अभूतपूर्व विकास ने – सामरिक प्रौद्योगिकी के विकास से भी अधिक सूचना और संचार की प्रौद्योगिकी के विकास ने – तथा उस प्रौद्योगिकी पर साम्राज्यवादी देशों के नियंत्रण ने दुनिया में एक नई स्थिति पैदा कर दी है जिसके वजह से संस्कृति स्वयं एक बहुत बड़ा भूमंडलीय उद्योग और व्यापार बन गई है। विकसित देश विकासशील देशों पर अपना सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कायम करने के लिए अधिसंरचना के सभी स्तरों – मसलन, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला सूचना और मनोरंजन के समस्त साधनों तथा माध्यमों – का इस्तेमाल अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी के साथ कर रही है। मीडिया के मलिकाने हक में जबर्दस्त बदलाव देखने को मिल रहा है। भूमंडलीकरण ने क्रॉस मीडिया ऑनरशिप को बढ़ावा दिया है, जहाँ कोई एक व्यक्ति या उसकी कंपनी प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक और इंटरनेट जैसे तमाम संचार माध्यमों में ज्यादा-से-ज्यादा निवेश कर रहे हैं ताकि संचार के सभी साधनों पर उनका प्रभुत्व बना रहे। किसी भी अन्य देश की मीडिया में किसी दूसरे देश के पूँजी का निवेश भूमंडलीकरण की ही देन है। 21वीं सदी के भारतीय मीडिया की मुख्यधारा का कॉरपोरेटीकरण हो चुका है। यह एक प्रकार का उद्योग बन चुका है।

कार्ल मार्क्स ने हमेशा अधिसंरचना की दृष्टि से संस्कृति को हाशिए पर रखा था। वे टेलीविजन, रेडियो और फिल्म को मोटे तौर पर आर्थिक क्रियाओं के रूप में देखते थे। वे मानते थे कि, मीडिया एक साधन है जिसके माध्यम से बाजार में वस्तु (माल) को बेचा जाता है। जबकि, नव-मार्क्सवादियों और

उत्तर-आधुनिक सिद्धांतकारों ने यह साबित किया है कि अब पूरा का पूरा बाजार संकेतों और प्रतिकृतियों के माध्यम से वस्तुओं की बिक्री करता है। अध्ययन के उपरांत एक महत्त्वपूर्ण बात जो सामने निकलकर आई, वह यह कि आधुनिक संस्कृति और उत्तर-आधुनिक संस्कृति में फर्क है। जहाँ आधुनिक संस्कृति को एक उच्च संस्कृति कहा गया वहीं इस बात पर जोर दिया गया कि उत्तर-आधुनिक संस्कृति का पूरी तरह से पण्यीकरण हो गया है। उत्तर-आधुनिकता की संस्कृति एक अभिजात संस्कृति है, जिसके लिए सर्वसहमति का निर्माण करना एक जटिल कार्य है। लेकिन इस कार्य को मीडिया बखूबी संपादित कर रहा है। आज की लोकप्रिय संस्कृति का ढाँचा अस्तित्त्व के जिन तत्त्वों को एक-दूसरे से जोड़ता है और जिस सामान्य चेतना का निर्माण करता है वह इस समय अधिकांश रूप से एक तैयार उत्पादन की तरह है जिसे संप्रेषण के साधनों द्वारा देखा जा सकता है। दरअसल टेलीविजन संचार का एक ऐसा साधन है जो समाज के सभी वर्गों को प्रभावित करता है और बार-बार वह ऐसे कार्यक्रम प्रसारित करता है जिनके बीच परस्पर संबंध होता है और जो आंतरिक दृष्टि से सुसंगत है और इस ढाँचे में जो अर्थ निहित होता है उनको दर्शक (उपभोक्ता) बहुत ही सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

वर्तमान मीडिया 'वैश्विक गाँव' की परिकल्पना को साकार करता नजर आ रहा है। ऐसे समय में मीडिया खासकर समाचार चैनल का बदलता स्वरूप उसके पूरे चरित्र पर कई सारे सवाल उठाता है। मीडिया का जिक्र होते ही जेहन में एक साथ कई सारे शब्द कौंधने लगते हैं – मसलन ताकत, ग्लैमर, पैसा, पहचान, सत्ता, राजनीति, समाज, संस्कृति आदि-आदि और इन सारे दर्शन को अगर मिला कर देखा जाए तो जिस एक शब्द से सामना होता है वो है रोमांटिसिज़्म। साहित्य – जो कि समाज का आईना है – पर आधारित धारावाहिक (हमलोग, गणदेवता, श्रीकांत, मालगुडीडेज, माटी के रंग आदि) के बदले यह हमें सास-बहू पर आधारित कार्यक्रम, हँसी के फूहड़ कार्यक्रम, भूत-प्रेत पर आधारित कार्यक्रम ही दिखाते हैं। यहाँ एक सवाल का उठना लाजिमी है कि, क्या सच में इतने बड़े देश में खबरों और मुद्दों का इतना अकाल है कि समाचार चैनलों को सीरियलों की खबर देकर टाईमपास करना पड़ता है? अन्य तमाम चैनल भी मनोरंजन के नाम पर झूठी, काल्पनिक, असामाजिक दुनिया हमें दिखा रहे हैं।

देश का एक बड़ा तबका यानि मध्यम वर्ग ही सीरियलों से गायब है। फिर ऐसे में निम्न मध्य वर्ग, गरीब, किसान, मजदूर, दलित, आदिवासी, वेश्या, समलिंगी, किन्नर, बुजुर्ग आदि को कौन अपनी कथा का सूत्रधार बनाएगा, जो पहले ही हाशिए पर पड़े हैं। सारे सीरियलों में दिखाया जाने वाला वर्ग इस देश के किसी भी कोने में नहीं बसता। दिन के चारों पहर शादी-ब्याह की तरह पहनावा, ऑफिस की भागदौड़ से दूर दिनभर घर में मौजूदगी, ठाठ-बाट की जीवन शैली, बड़े-बड़े सामूहिक परिवार, प्रत्येक परिवार में कम-से-कम एक या दो खलनायिका, बेटी-बेटे से भी जवान माँ, और भी न जाने क्या-क्या? कौन-से देश-दुनिया के परिवार हैं ये, जहाँ दिनभर का काम परिवार के लोगों के खिलाफ नया षड्यंत्र रचना होता है? ये गलत है कि जो हम देखना चाहते हैं वही वो हमें दिखाते हैं बल्कि वास्तविकता तो यह है कि हम वही देखते हैं जो वह हमें दिखाना चाहते हैं। उसका पूरा कार्य शैली जार्ज बर्नार्ड शॉ के इस वक्तव्य पर आधारित है की, 'तुम जो चाहते हो उसे प्राप्त करो, अन्यथा जो कुछ तुम्हें मिल रहा है वही पसंद करने के लिए तुम्हें मजबूर कर दिया जाएगा।'

भारतीय मीडिया के बारे में एक मिथ यह भी है कि, 'मीडिया लोकतंत्र का चौथा खंभा है'। इसके जबाव में यह कहा जा सकता है कि यह बस एक रोमानी बात है। वजह यह है कि, मीडिया के पास बाकी तीन स्तंभों – न्यायपालिका, कार्यपालिका एयर विधायिका – की तरह कोई संवैधानिक अधिकार नहीं है जिससे वह दूसरों की जाँच-पड़ताल कर सके। मीडिया को व्यवस्था के अंदर कोई वैधानिक भूमिका नहीं दी गई है। यहाँ तक कि मीडिया की स्वतंत्रता भी बोलने की आजादी के प्रावधानों से ही आती है न कि किसी संवैधानिक गारंटी से। यह और भी स्पष्ट तब हो जाता है जब भारत सरकार का वाणिज्य मंत्रालय मीडिया को एक उद्योग के रूप में गिनता है। वर्तमान में मीडिया का केंद्रीकरण हो रहा है जो कि चिंतनीय पहलू है। जरूरी है इसके विकेंद्रीकरण की। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि मीडिया के केंद्रीकरण (क्रॉस ऑनरशिप) ने इसे ताकतवर जरूर बनाया है। मीडिया की ताकत का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसकी पहुँच (किसी-न-किसी रूप में) दुनिया के कोने-कोने तक है। गौरतलब है कि मीडिया ने निजी चैनलों (संस्कार, आस्था आदि) के माध्यम से संस्कार

सिखाने का ठेका भी ले रखा है। लेकिन कमाल की बात यह है कि उतनी ही तेजी से समाज संस्कारहीन हो रहा है और सिखानेवाली मीडिया भी, साथ में संस्कार-गुरुओं के क्या कहने। अगर मीडिया को बाँट कर देखा जाए तो दो तरह का मीडिया नजर आता है। पहला, अकादमिक मीडिया जो हमें नैतिकता का पाठ पढ़ाती है और इसकी जिम्मेदारी तमाम विश्वविद्यालयों ने ले रखी है। दूसरा, व्यावहारिक मीडिया जिसकी ठेकेदारी मीडिया हाउसेज ने ले रखी है। चिंतनीय पहलू यह है कि जिस आदर्श मीडिया को संस्थानों में पढ़ाया जाता है वो व्यावहारिक धरातल पर भ्रम साबित होता है। वर्तमान समय में मीडिया द्वारा सामाजिक सरोकार की पत्रकारिता करने का दावा मात्र एक यूटोपिया है। मीडिया की पहचान एक ऐसी ताकतवर इंडस्ट्री के रूप में हो रही है जो सरकार और पूँजीपतियों के वैचारिक दमन का साधन मात्र बनकर रह गया है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को बढ़ाने में मीडिया की भूमिका किस हद तक है? जैसे सवालों पर विमर्श की जरूरत है।

भारत में जिस ऊहापोह की स्थिति में टेलीविजन की शुरुआत हुई और जिस कदर टेलीवीजन पत्रकारिता ने बहुत कम समय में समाज में अपने आप को स्थापित कर लिया है, सचमुच आश्चर्यजनक है। इसकी शुरुआत हुई थी 'आज तक' नामक 20 मिनट के एक छोटे से कार्यक्रम से, जिसकी सफलता आज समाचार चैनलों की होड़ में बदल चुकी है। हालाँकि, मीडिया अपने सकारात्मक रूप में आम आदमी के लिए हथियार का काम करती आई है लेकिन यही मीडिया अपने नकारात्मक या व्यायवसायिक रूप में आम आदमी के शोषण का कारण भी बनी है। वर्तमान समय में मीडिया सरकार और पूँजीपति के लिए सांस्कृतिक-वैचारिक दमन का साधन मात्र बनकर रह गया है। मीडिया का सारा समाजशास्त्र या उसका अर्थशास्त्र 'ग्रेशम के नियम' पर आधारित है जो यह कहता है कि, 'खोटे सिक्के, अच्छे सिक्के को बाजार से बाहर कर देता है' या इसके टीआरपी और व्यावसायीकरण पर टिका हुआ है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद या सांस्कृतिक वर्चस्व के इस दौर में सताशीनों के लिए मीडिया एक बहुत ही धारदार और कारगर माध्यम बनकर उभरा है। मीडिया के इस विकास को 'संस्कृति उद्योग' का नाम दिया गया है।

वर्तमान में टी.आर.पी. टेलीविजन चैनलों की लोकप्रियता आँकने का एकमात्र तरीका है। अगर व्यंग्यात्मक तरीके से इसका परिचय दिया जाए तो इसे टेलीविजन तमाशा पॉइंट कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। लेकिन टी.आर.पी. का पूरा तंत्र विज्ञापन पर टिका हुआ है। जिस चैनल की टी.आर.पी. ज्यादा होगी अर्थात जिस चैनल के दर्शक (उपभोक्ता) और समाचार (उत्पाद) ज्यादा होंगे उन्हें उतना ज्यादा विज्ञापन मिलेगा। टी.आर.पी. की प्रतिस्पर्द्धा में समाचार चैनलों के कंटेंट में कमी आई है। समाचार को लेकर जहाँ शुरूआत में यह कहा जाता था कि – कंटेंट इज़ द किंग, वहाँ यह कहा जाने लगा कि – डिस्ट्रीब्यूशन इज़ द किंग। लेकिन वर्तमान दौर में कहा जा सकता है कि 'टी.आर.पी. इज़ द किंग'। 2001 में फिक्की-फ्रेम्स ने मीडिया रिसर्च पर एक सत्र रखा जिसका विषय था – Entertainment And Media Research : Viewing The Viewer As A Consumer. उत्पादक (मीडिया), उत्पाद (खबर), और उपभोक्ता (दर्शक) के इस दौर में खबरों को भी उत्पाद बना दिया गया है, यानी जो बिक सकेगा, वही खबर है। बाजार और राजनीति ने खबरों का वस्तुकरण कर दिया है। लगभग 130 करोड़ की आबादी वाले देश के कुछ महानगरों के कुछ घरों के मॉनीटरिंग से किसी भी चैनल की लोकप्रियता को नहीं आँका जा सकता है।

भारत में लोगों का आर्थिक स्तर निम्न है, साक्षरता का प्रतिशत कम है तथा जागरूकता के प्रति रुझान में भी भारी कमी है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी किसी-न-किसी रूप में मीडिया की पहुँच देश की राजधानी दिल्ली से लेकर सुदूर गाँव तक है। मीडिया के इस विस्तार को सकारात्मक कहा जा सकता है किंतु उसके तेजी से बदलते स्वरूप और बाजारवादी होती प्रवृतियों को समय-समय पर जाँचना भी जरूरी है, क्योंकि आम भारतीय मानस अभी इतना परिपक्व नहीं हुआ है कि वह उद्वेलित करने वाले समाचारों अथवा सूचनाओं के तत्वों का संयम से विश्लेषण कर सके। आज विभिन्न संचार माध्यमों के बीच पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता चरम पर है। इसका सीधा-सा कारण है लाभ। प्रत्येक समाचार चैनल आज अधिक-से-अधिक आर्थिक लाभ कमाना चाहता है और इसके लिए वह हर संभव उपायों से ऐसी-ऐसी सूचनाएँ एकत्रा करता है तथा उन सूचनाओं को ऐसे अनूठे और अलग ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास

करता है कि वह अधिक-से-अधिक पाठक, श्रोता अथवा दर्शक जुटा सके। इस संदर्भ में एकदम सरल गणित है कि अधिक दर्शक यानि अधिक विज्ञापन मतलब अधिक मुनाफा। मुनाफा के गणित में उलझ कर सभी संचार माध्यम एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लगाए रहते हैं। इस होड़ के कारण कई बार सूचनाओं की मौलिकता अथवा सच्चाई आकर्षण पैदा करने वाले आवरण के नीचे दब कर रह जाती है। कई बार स्थिति अमानवीयता के स्तर तक जा पहुँचती है। एक-दूसरे से आगे बढ़ने तथा त्वरित गति बनाए रखने के चक्कर में मानवीय भावना एवं संवेदना को क्षति पहुँचती है।

इस वक्त मीडिया ने दर्शक को उपभोक्ता बनाकर रख दिया है और इसमें जितना दोष मीडिया का है उतना ही हमारा भी। सांस्कृतिक वर्चस्व या सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के इस दौर की डोर मीडिया के हाथ में है। क्या मीडिया सामाजिक चेतना का ड्रामेटाइजेशन या उसके परवर्जन को बढ़ावा दे रहा है? अगर ऐसा है तो टी.आर.पी. की होड़ में और लाभ के सीनिसिज़्म में मीडिया कहीं-न-कहीं मानवता को अंधकार में धकेल रहा है। माध्यम के साथ-साथ एक सवाल वर्तमान पत्रकारों पर भी उठता है और वो यह है कि 2-3 साल का कोर्स करके पत्रकारिता करनेवाले पत्रकार अपने सोच और अप्रोच में अरचनात्मक और विध्वंसकारी होते हैं। ऐसे में समाचार चैनलों को अपनी समीक्षा करने की आवश्यकता है साथ ही समाचार को प्रसारित करने से पहले उसके मूल्यों को जाँचने-परखने की।